कविता के नए प्रतिमान

नामवर सिंह

कविता के नए प्रतिमान

नामवर सिंह

कविता के नए प्रतिमान

कविता के नए प्रतिमान

नामवर सिंह

राजकमल प्रकाशन

ISBN : 978-81-267-1462-9

© नामवर सिंह

पहला संस्करण : 1968
सत्रहवाँ संस्करण : 2016

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.
1 -बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज
नई दिल्ली-110 002

शाखाएँ : अशोक राजपथ, साइंस कॉलेज के सामने, पटना-800 006
पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-211 001
36 ए, शेक्सपियर सरणी, कोलकाता-700 017

वेबसाइट : www.rajkamalprakashan.com
ई-मेल : info@rajkamalprakashan.com

KAVITA KE NAYE PRATIMAN
Criticism by Dr. Namwar Singh

इस पुस्तक के सर्वाधिकार सुरक्षित हैं। प्रकाशक की लिखित अनुमति के बिना इसके किसी भी अंश को, फोटोकॉपी एवं रिकॉर्डिंग सहित इलेक्ट्रॉनिक अथवा मशीनी, किसी भी माध्यम से, अथवा ज्ञान के संग्रहण एवं पुन:प्रयोग की प्रणाली द्वारा, किसी भी रूप में, पुनरुत्पादित अथवा संचारित-प्रसारित नहीं किया जा सकता।

मेरी वह खोई हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार
आत्मसंभवा

गजानन माधव मुक्तिबोध

की याद में

ऊर्ध्वोर्ध्वमारुह्य यदर्थतत्त्वं
धी: पश्यति श्रांतिमवेदयंती।
अलं तदाद्यैः परिकल्पितानां
विवेकसोपानपरंपराणाम्॥
चित्रं निरालंबनमेव मन्ये
प्रमेयसिद्धौ प्रथमावतारम्।
तन्मार्गलाभे सति सेतुबंध—
पुरप्रतिष्ठादि न विस्मयाय॥
तस्मात सतामत्र न दूषितानि
मतानि तान्येव तु शोधितानि।
पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु
मूलप्रतिष्ठाफलमामनंति॥

बौद्धिक जिज्ञासा यदि उच्च से उच्चतर स्तर पर अविश्रान्त भाव से आरोहण करती है और सत्य को स्पष्ट एवं स्पष्टतर रूप में देख पाती है तो इसका कारण पूर्व लेखकों द्वारा निर्मित चिन्तन की सोपान-परम्परा है।

प्रमेय के सिन्धु को पार करने के प्रथम प्रयत्न, भले ही निरवलम्ब रहे हों, निश्चय ही विस्मयकारी हैं। परन्तु जब पूर्वसरियों ने सन्मार्ग दिखला दिया तो सेतुबंध अथवा पुर (नगर) की प्रतिष्ठा का कार्य विस्मयकारी नहीं रह जाता।

इसलिए मैंने श्रेष्ठ विद्वानों के सिद्धान्तों में दोष दर्शन नहीं किया है। मैंने उनका परिष्कार मात्र किया है। विद्वानों का मानना है कि पूर्वप्रतिष्ठित मतों पर आधारित मतों को मूल बुनियाद पर प्रतिष्ठित मानना चाहिए।

प्रथम संस्करण की भूमिका

कविता के नए प्रतिमान आलोचना के उस 'सहयोगी प्रयास' का अंग है, जिसके पीछे नए मूल्यों की खोज और प्रतिष्ठा को लेकर चलनेवाले संघर्ष का एक लंबा सिलसिला है और जिसमें हर एक का अपना आत्मसंघर्ष भी शामिल है। पुस्तक की वाद-शैली इसी संघर्ष का प्रतिफलन है। जिन्हें एक बने-बनाए स्पष्ट प्रतिमान से प्रयोजन है, उन्हें ये विवाद शायद व्यर्थ के सिरदर्द लगें। लेकिन संघर्ष के बिना जब दो वक्त की रोटी भी मयस्सर नहीं होती तो कविता के मूल्य क्या मिलेंगे? मूल्यों को इसीलिए 'कमाया हुआ सत्य' कहा जाता है कि हर एक को मूल्यों के लिए खुद कीमत चुकानी पड़ती है। मूल्य हस्तांतरित नहीं किए जा सकते; अधिक-से-अधिक उनका पुन:प्रत्यय हो सकता है; और पुन:प्रत्यय से अधिक यह पुस्तक अपेक्षा भी नहीं करती।

कविता के नए प्रतिमान नाम में दंभ की कुछ गंध भले ही मिले, स्वयं पुस्तक में किसी प्रतिमान के 'निर्माण' का दंभ नहीं है। लेखक का विश्वास है कि जिस तरह वैयाकरण भाषा के शब्द नहीं बनाता, उसी तरह आलोचक भी काव्य के मूल्यों का निर्माण नहीं करता। शब्दानुशासन के समान ही काव्यानुशासन भी वस्तुत: अनुशासन है, शासन नहीं। इस अनुशासन का आधार है नए काव्य-सृजन में निहित मूल्यों का प्रत्यभिज्ञान या पहचान, जिसे अभिनवगुप्त ने "ज्ञात का भी विशेष रुप से अनुसंधानात्मक निरूपण" कहा है। यहाँ यह 'जाना हुआ' कहाँ तक 'पहचाना हुआ' बन सका है, इसका निर्णय विज्ञ पाठक स्वयं करेंगे।

इस अनुशासन की आवश्यकता न पड़ती यदि कविता को सीधे अनुभव करने में हर पाठक स्वतंत्र और समर्थ होता। किंतु विडंबना यह है कि जो अपने को सामान्य पाठक कहता है, वह भी अपने काव्यानुभव में अनजाने ही किसी-न-किसी काव्य-सिद्धांत से अनुशासित होता है। ये अनजाने काव्य-सिद्धांत पर्यवेक्षण और निर्णय में सब समय साधक ही नहीं होते; ज्यादातर तो वे पाठक की दृष्टि को सीमित और निर्णय को पूर्वग्रह से दूषित करते प्रतीत होते हैं। पिछले बीस वर्षों के काव्य-सृजन के सहज ग्रहण का इतना हठ-प्रतिरोध प्रमाण है। हिंदी में संप्रति छद्म-छायावादी पूर्वग्रह प्रबल हैं, जो अभी तक अनजाँचे होने के कारण अनेक पाठकों को उनके अनजाने ही प्रभावित करते रहते हैं। इस पुस्तक में एक ओर उन पूर्वग्रहों के प्रति पाठक को आत्म-सजग करने का एक प्रयास है तो दूसरी ओर अपने पूर्वग्रहों के प्रति भी पर्याप्त आत्म-सजगता है जिन्हें केवल आरंभिक प्रतिज्ञा (हाइपोथीसिस) के रूप में स्वीकार किया गया है।

यह तथ्य अनदेखा नहीं किया जा सकता कि कविता के नए प्रतिमान के केंद्र में मुक्तिबोध हैं। मूल्यों के अन्वेषण की प्रक्रिया में कभी-कभी प्राय: सबके सामने आदिकाव्य का यह प्रश्न

उपस्थित होता है : **कोन्वस्मिन् सांप्रतं लोके···?** उत्तर में मुझे मुक्तिबोध ही क्यों दीखे, इसका उत्तर यदि स्वयं यह पुस्तक नहीं देती तो अलग से कोई उत्तर देना अनावश्यक है। वैसे, मुक्तिबोध की मृत्यु के समय इस सत्य का प्रत्यभिज्ञान बहुतों को हुआ, जो इस बात का सूचक है कि पहचान के लिए मृत्युबोध से कम का आघात काफी नहीं। इस पुस्तक का आधार यह धारणा है कि नई कविता में मुक्तिबोध की स्थिति वही है जो छायावाद में निराला की थी। निराला के समान ही मुक्तिबोध ने भी अपने युग के सामान्य काव्यों को प्रतिफलित करने के साथ ही उनकी सीमा को चुनौती देकर उस सर्जनात्मक विशिष्टता को चरितार्थ किया, जिससे समकालीन काव्य का सही मूल्यांकन संभव हो सका।

मुक्तिबोध की विशेषता यह है कि उन्होंने रचना के साथ ही आलोचना के भी मान रखे। रचना-प्रक्रिया के विश्लेषण के साथ ही उन्होंने आलोचना-प्रक्रिया का भी प्रमाण प्रस्तुत किया। एक साहित्यिक की डायरी, नई कविता का आत्म-संघर्ष तथा अन्य निबंध, कामायनी : एक पुनर्विचार आदि इस आलोचना-प्रक्रिया के ऐतिहासिक दस्तावेज हैं। अपनी आलोचनात्मक क्षमता के द्वारा मुक्तिबोध ने प्रमाणित कर दिया कि कोई भी चीज तभी स्पष्ट होती है जब कम-से-कम एक ईमानदार व्यक्ति मौजूद हो। मूल्यवान है एक भी ऐसे आलोचक का होना जो किसी भी चीज को तब तक ‘अच्छा’ न कहे जब तक उस निर्णय के लिए वह अपना सबकुछ दाँव पर लगाने को तैयार न हो।

कविता के नए प्रतिमान के द्वारा यदि और कुछ नहीं बल्कि केवल यह बोध भी जाग्रत हो सका तो लेखक की दृष्टि में यह प्रयास सार्थक होगा।

9 अगस्त 1968

द्वितीय संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक से कुछ मित्रों को 'रूपवादी झुकाव' की शिकायत है। खासतौर से उन्हें जो मुझसे सुसंगत मार्क्सवादी आलोचना-दृष्टि की अपेक्षा रखते हैं। इस दृष्टि से सबसे पहले विचारणीय है श्री नेमिचंद्र जैन की समीक्षा, जो 12 जनवरी, 1969 के साप्ताहिक हिंदुस्तान में 'प्रायदृष्टि' स्तंभ के अंतर्गत कविता के प्रतिमानों की खोज शीर्षक से प्रकाशित हुई थी। नेमि जी को जो बात बहुत अजीब लगी वह है, "मार्क्सवादी नामवर सिंह का सर्वथा रूपवादी आलोचना-दृष्टि की ओर क्रमश: झुकाव।" उन्होंने यह स्वीकार किया है कि "पुस्तक में एक प्रकार की छटपटाहट-जैसी है जो तर्क-योजना के रूपवादी बहाव और लेखक के संस्कारों के मूल्यवादी रुझान के बीच अंत:संघर्ष से उत्पन्न जान पड़ती है।" वे यह भी मानते हैं कि काव्यभाषा के परीक्षण के सहारे कविता के मूल्यांकन तक पहुँचने की प्रक्रिया में जो रूपवादी खतरे हैं, उनसे भी मैं अनजान नहीं हूँ। किंतु अंतत: उनका निष्कर्ष यही है कि "नामवर सिंह का विश्लेषण उस प्रवृत्ति को समर्थन देता जान पड़ता है, जो कहता है कि कविता की दुनिया एक स्वायत्त दुनिया है जिसका मूल्यों से, किसी सामाजिक सार्थकता से कोई संबंध नहीं।"

श्री नेमिचंद्र जैन-जैसे सावधान पाठक-समीक्षक को ऐसा कैसे लगा, यह बात मुझे तो बहुत अजीब लग रही है; क्योंकि इस पुस्तक में मैंने एक से अधिक जगहों पर स्पष्ट शब्दों में कहा है कि कविता के स्वत: संपूर्ण संसार की सत्ता भ्रामक है। काव्य-संसार स्वायत्तता या स्वतंत्रता का जब भी प्रसंग आया है, मैंने बराबर 'सापेक्ष स्वतंत्रता' का पक्ष लिया है (देखिए, पृ. 43 , 214)। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि कविता के नए प्रतिमान का अंत 'परिवेश और मूल्य' शीर्षक अध्याय से होता है। इस संदर्भ में मुक्तिबोध के काव्य-संसार को अन्य समकालीन कवियों के काव्य-संसार से अधिक जीवंत और सार्थक मानने के लिए यही युक्ति दी गई है कि उसमें समकालीन परिवेश का अधिक यथार्थ चित्र है। ऐसे स्पष्ट सिद्धांत-कथन और इतने ठोस उदाहरण के बाद भी यदि इस पुस्तक से कविता की दुनिया को स्वायत्त दुनिया माननेवाली प्रवृत्ति को समर्थन मिलता जान पड़े तो मुझे और कुछ नहीं कहना है।

मार्क्सवादी साहित्य-दृष्टि बराबर ही कविता की 'सापेक्ष स्वतंत्रता' पर बल देती रही है। हिंदी से और उदाहरण लें तो मुक्तिबोध के अलावा, जिनका मत कविता के नए प्रतिमान में उद्धृत है, डॉ. रामविलास शर्मा के आस्था और सौंदर्य में भी यही मान्यता व्यक्त की गई है। वस्तुत: यही वह आधार है जिससे मार्क्सवादी आलोचक एक ओर शुद्ध कविता के समर्थक रूपवादी आलोचकों से लोहा लेते रहे हैं और दूसरी ओर कविता को समाज का पर्याय माननेवाली स्थल

समाजशास्त्रीय आलोचना से संघर्ष करते रहे हैं। निस्संदेह 'सापेक्ष स्वतंत्रता' में 'सापेक्षता' की तनी हुई रस्सी पर सब समय संतुलन के साथ चल पाना संभव नहीं हो पाता। इसलिए इधर मार्क्सवादी साहित्य-चिंतकों ने 'सापेक्ष स्वतंत्रता' शब्द को छोड़ देने का प्रस्ताव रखा है। इंग्लैंड के मार्क्सवादी आलोचक जेरेमो हॉथॉर्न ने आइडेंटिटी एंड रिलेशनशिप (लारेंस एंड विशार्ट, लंदन, 1972) नामक पुस्तक में इस प्रश्न पर विचार करते हुए सुझाव दिया है कि कविता की 'स्वायत्तता' अर्थात् 'ॲटॉनॉमी' के स्थान पर 'अस्मिता' अर्थात् 'आइडेंटिटी' शब्द का प्रयोग अधिक संगत है और जीवन या समाज के संदर्भ में उसकी सापेक्षता को स्पष्ट करने के लिए संबंध-भावना अर्थात् 'रिलेशनशिप' का प्रयोग उचित है। प्रस्तावित पदों के औचित्य की पुष्टि के लिए जेरेमी हॉथॉर्न ने यह युक्ति दी है कि इनके द्वारा काव्यकृति और मानव-व्यक्ति के बीच सादृश्य के विविध रूप ध्वनित होते हैं। पूरे प्रश्न की जटिलता में प्रवेश करने के लिए यहाँ अवकाश नहीं है, किंतु इतना स्पष्ट है कि मार्क्सवादी आलोचक काव्यकृति की वास्तविक निजता अथवा स्वकीयता की खोज के लिए अधिक-से-अधिक संबंध-सूत्रों की जटिलता के विश्लेषण की आवश्यकता अनुभव कर रहे हैं।

इस प्रसंग में जेरेमी हॉथॉर्न ने तथाकथित 'रूपवादी' समीक्षा की चुनौती का जिक्र करते हुए यह आशा व्यक्त की है कि रूपवादी आलोचना के तत्त्वों का उपयोग मार्क्सवादी आलोचना को विस्तृत और समृद्ध करने के लिए हो सकता है। उनका विश्वास है कि 'ॲटॉनॉमी' के स्थान पर 'आइडेंटिटी' शब्द को स्वीकार कर लेने से रूपवादी आलोचना के निषेधात्मक पक्ष तिरस्कृत हो जाएँगे और स्वयं काव्यकृति-संबंधी रूपवादी अनुशीलन के विधेयात्मक तत्त्व सुरक्षित रह जाएँगे। जरूरी नहीं कि जेरेमी हॉथॉर्न के इस विश्वास से सभी लोग आश्वस्त हों, किंतु ऐसा लगता है कि हिंदी के नए मार्क्सवादी आलोचक अंग्रेजी की 'नई समीक्षा' के प्रति जरूरत से ज्यादा शंकालु हैं। कविता के नए प्रतिमान में रूपवादी झुकाव देखने का एक कारण यह भी रहा है कि उसमें अंग्रेजी के कुछ नए समीक्षकों को उद्‌धृत किया गया है। जिनकी दृष्टि पुस्तक की निजी स्थापनाओं तक न जाकर ऊपर-ऊपर केवल नामों पर ही तैरती रहती है, उन प्रभावखोजी पाठकों से कुछ भी कहना बेकार है। लेकिन जो मार्क्सवादी आलोचना के विकास के लिए प्रयत्नशील हैं, वे जानते हैं कि अंग्रेजी 'नई समीक्षा' को 'साम्राज्यवादी साजिश' या 'पतनशील' पाश्चात्य प्रवृत्ति कहकर टाला नहीं जा सकता। नवंबर, 1973 के उत्तरार्द्ध- 6 में प्रकाशित डॉ. ओमप्रकाश ग्रेवाल के निबंध 'हिंदी साहित्य-विवेचन में नव्य-आलोचना पद्धति' से स्पष्ट है कि हिंदी में भी कुछ ऐसे मार्क्सवादी आलोचक हैं, जो अंग्रेजी 'नई आलोचना' की 'व्यक्तिवादी अंतर्मुखी मानवतावादी' दृष्टि का तिरस्कार करके 'नई आलोचना' के अनेक उपयोगी तत्त्वों को स्वीकार करने के लिए तैयार हैं। अंग्रेजी के मार्क्सवादी आलोचक आर्नल्ड केटल ने भी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक अंग्रेजी उपन्यास की भूमिका में नए समीक्षक डॉ. एफ. आर. लीविस का ऋण स्वीकार किया है। ऐसा नहीं है कि आर्नल्ड केटल लीविस की प्रतिक्रियावादी सामाजिक दृष्टि से परिचित नहीं थे, किंतु हिंदी के अधकचरे मार्क्सवादी अध्येताओं ने सिर्फ इतना ही सुन रखा है

कि लीविस केवल प्रतिक्रियावादी रूपवादी (?) समीक्षक हैं। जहाँ मार्क्सवाद-संबंधी अज्ञान नई समीक्षा-संबंधी अपरिचय से होड़ ले रहा हो, वहाँ इतिहास और परंपरा-ज्ञान के अभाव में केवल उच्छेदवाद ही पनप सकता है और जाहिर है कि उच्छेदवादी दृष्टि से मार्क्सवादी आलोचना का विकास संभव नहीं है।

यह सही है कि अंग्रेजी नई आलोचना का उदय मार्क्सवादी आलोचना के विरोध में हुआ और स्वयं डॉ. एफ. आर. लीविस की पत्रिका स्क्रूटिनी ने घोषणा के साथ इस विरोध का झंडा उठाया। यह भी सही है कि चौथे दशक का अंत होते-होते स्क्रूटिनी संप्रदाय की 'नई आलोचना' ने अंग्रेजी शिक्षित समुदाय में मार्क्सवादी आलोचना को परास्त करके अपनी विजय-पताका फहरा दी। सवाल यह है कि इस वैचारिक संघर्ष में मार्क्सवादी आलोचना की पराजय क्यों हुई? निश्चय ही इसके अनेक सामाजिक कारण थे। किंतु क्या इस पराजय के बीज स्वयं उस समय की मार्क्सवादी आलोचना में नहीं थे? क्या यह सच नहीं है कि तत्कालीन मार्क्सवादी आलोचना साहित्यिक कृति को उसके सामाजिक उत्स के साथ एकाकार करने पर विशेष बल दे रही थी? यदि उस समय मार्क्सवादी आलोचना ने साहित्य की सापेक्ष स्वतंत्रता को ध्यान में रखते हुए उसकी स्वकीयता को कुछ भी सम्मान दिया होता तो 'स्क्रूटिनी' संप्रदाय को वह सफलता न मिलती। किंतु ऐसा लगता है कि मार्क्सवादी आलोचना ने, खासतौर से हिंदी में, न उस इतिहास से कोई सबक लिया और न स्वयं अपने स्वातंत्र्योत्तर दशक से। मार्क्सवादी आलोचकों की इसी जड़ता पर कशाघात करने के लिए मुक्तिबोध को नई कविता का आत्म-संघर्ष तथा अन्य निबंध में 'समीक्षां की समस्याएँ' शीर्षक 65 पृष्ठों का भावावेशपूर्ण निबंध लिखना पड़ा। मार्क्सवादी आलोचना के इस रूप-तिरस्कार की क्षतिपूर्ति के लिए ही कविता के नए प्रतिमान में काव्य के रूप-पक्ष पर अतिरिक्त बल दिया गया है। रूपवाद का उत्तर स्थूल समाजशास्त्रीयता नहीं, बल्कि विषयवस्तु और रूपविधान के द्वंद्वात्मक संबंधों की सही जानकारी पर आधारित सच्ची मार्क्सवादी आलोचना ही हो सकती है। इस आलोचना-पद्धति के विकास के लिए रूपवादी समीक्षा से गंभीर संघर्ष की आवश्यकता है। इस संघर्ष में हमें अंतोनियो ग्राम्शी का यह कथन याद रखना चाहिए कि "युद्ध-क्षेत्र में दुश्मन के सबसे कमजोर मोर्चे पर हमला करके जीत हासिल कर लेना भले ही सफल रणनीति हो, पर बौद्धिक क्षेत्र में सबसे मजबूत और मुश्किल मोर्चे की विजय ही असली विजय है।"

प्रस्तुत संस्करण में परिशिष्ट के अंतर्गत 'अँधेरे में : पुनश्च' शीर्षक एक नया निबंध जोड़कर मैंने इसी संघर्ष को आगे बढ़ाने का प्रयास किया है। शेष प्रश्न आगामी पुस्तक में।

2-1-1974

– नामवरसिंह

अनुक्रम

: 1 :

भूमिका
कविता क्या है?
कविता के नए प्रतिमान?
रस के प्रतिमान की प्रसंगानुकूलता
मूल्यांकन की समस्या : छायावादोत्तर कविता
मूल्यों का टकराव : 'उर्वशी'-विवाद
पुनर्मूल्यांकन का एक उदाहरण : 'कामायनी'
तार सप्तक : इतिहास की आवृत्ति

: 2 :

काव्य-भाषा और सृजनशीलता
काव्य-बिंब और सपाटबयानी
काव्य-संरचना : प्रगीतात्मक और नाटकीय
विसंगति और विडंबना
अनुभूति की जटिलता और तनाव
ईमानदारी और प्रामाणिक अनुभूति
परिवेश और मूल्य

परिशिष्ट

अँधेरे में : परम अभिव्यक्ति की खोज
'अँधेरे में' : पुनश्च

1

कविता क्या है?

"किसी काव्य-कृति का 'कविता' होने के साथ ही 'नई' होना अभीष्ट है। वह 'नई' हो और 'कविता' न हो, यह स्थिति साहित्य में कभी स्वीकार्य नहीं हो सकती। फिर नई कविता का विरोध आज नएपन के आग्रह के कारण उतना नहीं हो रहा है, जितना इस कारण कि जो बाह्यत: और साधारणत: कविता नहीं लगता, उसे उसके अंतर्गत कविता कहा जाता है। अतएव 'नया क्या है?' इस प्रश्न के साथ ही यह प्रश्न भी जीवित प्रश्न है कि 'कविता क्या है?' और यदि सत्य कहा जाए तो पहले की अपेक्षा अब दूसरा प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण हो उठा है।" डॉ. जगदीश गुप्त का यह कथन सर्वथा समयोचित है, क्योंकि कविता में अब 'नई कविता' के आगे की नई प्रवृत्तियों का उदय हो चला है, जिनके प्रवर्तक 'नई कविता' को प्रच्छन्न व्यतीत लेखन' कहने लगे हैं। ऐसी स्थिति में केवल 'नवीनता' के आधार पर 'नई कविता' को प्रतिष्ठित करना, निश्चय ही कठिन होगा। इसलिए आज यदि 'नई कविता' के संदर्भ में 'कविता क्या है?' प्रश्न फिर से उठाना आवश्यक प्रतीत हो रहा है तो इसे संगत ही कहा जाएगा।

किंतु इस प्रश्न की सार्थकता उत्तर पर निर्भर है। डॉ. जगदीश गुप्त के सामने यह स्पष्ट है कि 'नया क्या है' और 'कविता क्या है' — "ये दोनों प्रश्न परस्पर-संबद्ध और एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, क्योंकि कविता में नवीनता की उत्पत्ति वस्तुत: सच्ची कविता लिखने की आकांक्षा से ही होती है।" संभवत: इसीलिए उन्होंने कहा है कि "जो कथन सृजनात्मकता (creativity) तथा संवेदनीयता (emotivity) से रहित हो, उसे किसी भी स्तर पर कविता नहीं कहा जा सकता।"इस कथन से स्पष्ट है कि सृजनात्मकता नवीनता का पर्याय है और संवेदनीयता कविता का। किंतु इस विवेचन के बाद जब डॉ. जगदीश गुप्त कविता की परिभाषा प्रस्तुत करते हैं तो जाने कैसे 'सृजनात्मकता' का तत्त्व गायब हो जाता है। उनकी परिभाषा इस प्रकार है :

"कविता सहज आंतरिक अनुशासन से युक्त अनुभूतिजन्य सघन लयात्मक शब्दार्थ है, जिसमें सह-अनुभूति उत्पन्् करने की यथेष्ट क्षमता निहित रहती है।"

(नई कविता : 5-6 , 1960-61)

ध्यान देने की बात है कि यह परिभाषा 'नई कविता' के संदर्भ में प्रस्तुत की गई है और परिभाषाकार 'नई कविता' के एक प्रवक्ता ही नहीं, बल्कि स्वयं नए कवि भी हैं। अपनी समझ से उन्होंने परंपरा-प्राप्त परिभाषाओं को अपर्याप्त समझकर ही नए सिरे से कविता को परिभाषित करने का प्रयास किया है किंतु इसमें ऐसी कौन-सी नई बात है, जो किसी पूर्ववर्ती परिभाषा में